**पण्डित श्रीबंशीधर**
शास्त्री व्याकरणाचार्य

# जैनदृष्टि से मनुष्यों में उच्च-नीच व्यवस्था का आधार

जैन संस्कृति में समस्त संसारी अर्थात् नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देव—इन चारों ही गतियों में विद्यमान सभी जीवों को यथायोग्य उच्च और नीच दो भागों में विभक्त करते हुए यह बतलाया गया है कि जो जीव उच्च होते हैं उनके उच्च-गोत्र कर्म का और जो जीव नीच होते हैं उनके नीचगोत्र कर्म का उदय विद्यमान रहा करता है.

यद्यपि जैन संस्कृति के मानने वालों के लिये यह व्यवस्था विवाद या शंका का विषय नहीं होना चाहिए परन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक संसारी जीव में उच्चता अथवा नीचता की व्यवस्था करने वाले साधनों का जब तक हमें परिज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक जीव तो उच्च है और अमुक जीव नीच है ?

यदि कोई कहे कि एक जीव को उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर नीच कहने में क्या आपत्ति है ? तो इस पर हमारा कहना यह है कि अपनी वर्तमान अल्पज्ञता की हालत में हम लोगों के लिये जीवों में यथायोग्य रूप से विद्यमान उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान न हो सकने के कारण एक जीव को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच-गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना शक्य नहीं है.

माना कि जैन संस्कृति के आगम-ग्रंथों के कथनानुसार नरकगति और तिर्यग्गति में रहने वाले संपूर्ण जीवों में केवल नीच गोत्र कर्म का तथा देवगति में रहने वाले सम्पूर्ण जीवों में केवल उच्चगोत्र कर्म का ही सर्वदा उदय विद्यमान रहा करता है. इसलिए यद्यपि संपूर्ण नारकियों और संपूर्ण तिर्यंचों में नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल नीचता का तथा संपूर्ण देवों में उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल उच्चता का व्यवहार करना हम लोगों के लिये अशक्य नहीं है परन्तु उन्हीं जैन आगम ग्रंथों में जब संपूर्ण मनुष्यों में से किन्हीं मनुष्यों के तो उच्च गोत्र कर्म का और किन्हीं मनुष्यों के नीच गोत्र कर्म का उदय होना बतलाया है तो जब तक संपूर्ण मनुष्यों में पृथक्-पृथक् यथायोग्य रूप से विद्यमान उक्त उच्च तथा नीच दोनों ही प्रकार के गोत्र कर्मों के उदय का परिज्ञान नहीं हो जाता तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक मनुष्यों में चूँकि उच्चगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उन्हें तो उच्च कहना चाहिए और अमुक मनुष्य में कि नीचगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उसे नीच कहना चाहिए ? इसके अतिरिक्त मनुष्यों में जब गोत्र-परिवर्तन की बात भी उन्हीं आगम-ग्रंथों में स्वीकार की गयी है तो जब तक उनमें (मनुष्यों में) यथा समय रहने वाले उच्चगोत्र-कर्म तथा नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान हमें नहीं हो जाता, तब तक यह भी एक समस्या है कि एक ही मनुष्य को कब तो हमें उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च कहना चाहिए और उसी मनुष्य को कब हमें नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना चाहिए ? एक बात और है. जैन संस्कृति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता के अनुसार सातों नरकों के संपूर्ण नारकियों में परस्पर तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की संपूर्ण तिर्यग्-जातियों और इनकी उपजातियों में रहने वाले संपूर्ण तिर्यंचों में परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी नारकी, नरकगति सामान्य की अपेक्षा और सभी तिर्यंच, तिर्यग्गति सामान्य की अपेक्षा नीच गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच माने जा सकते हैं तो, और इसी प्रकार भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक नाम की संपूर्ण देव जातियों और इनकी उपजातियों में रहने वाले सम्पूर्ण देवों में परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी देव देवगति सामान्य की अपेक्षा, उच्चगोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च माने जा सकते हैं तो, फिर मनुष्यगति में रहने वाले संपूर्ण मनुष्यों में भी मनुष्य-गति सम्बन्धी विविध प्रकार की समानता रहते हुए अन्य ज्ञात साधनों के अभाव में केवल अज्ञात उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर पृथक्-पृथक् क्रमशः उच्चता और नीचता का व्यवहार कैसे किया जा सकता है ?

ये सब समस्याएँ हैं जिनका जब तक यथोचित समाधान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक जैन संस्कृति के अनुयायी होने पर भी हम लोगों के मस्तिष्क में मनुष्यों को लेकर उच्चता और नीचता संबन्धी संदेह पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है.

षट्खण्डागम के सूत्र १३५ का आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी द्वारा किया गया जो व्याख्यान धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ पर पाया जाता है, उसे देखने से मालूम पड़ता है कि मनुष्यों की उच्चता और नीचता के विषय में आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय में भी विवाद था. इतना ही नहीं, आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उस व्याख्यान से तो यहां तक भी मालूम पड़ता है कि उनके समय के कोई-कोई विचारक विद्वान् मनुष्यगति में माने गये उच्च और नीच उभयगोत्र कर्मों के उदय के सम्बन्ध में निर्णयात्मक समाधान न मिल सकने के कारण उच्च और नीच दोनों भेद-विशिष्ट व समूचे गोत्र-कर्म के अभाव तक को मानने के लिये उद्यत हो रहे थे. आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह व्याख्यान निम्न प्रकार है :

"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः ? न तावद् राज्यादिलक्षणायां सम्पदि, तस्याः सद्वेद्यतः समुत्पत्तेः. नापि पंचमहाव्रतग्रहण-योग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहणं प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्योदयाभावप्रसंगात्. न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात्. नादेयत्वे, यशसि, सौभाग्ये वा व्यापारः, तेषां नामतः समुत्पत्तेः. नेक्ष्वाकु-कुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात्. विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्. न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः, म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्. नाणुव्रतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्व्यापारः, देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्वप्रसंगात्. नाभेयस्य नीचगोत्रतापत्तेश्च. ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्. तत एव न तस्य कर्मत्वमपि. तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्. ततो गोत्रकर्माभाव इति."

इस व्याख्यान में प्रथम ही यह प्रश्न उठाया गया है कि जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का क्या कार्य होता है ? इसके आगे उच्चगोत्र कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाली तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं का निर्देश करते हुए उनका खण्डन किया गया है और इस तरह उक्त प्रश्न का उचित समाधान न मिल सकने के कारण अंत में निष्कर्ष के रूप में गोत्र-कर्म के अभाव को प्रस्थापित किया गया है. व्याख्यान का हिन्दी विवरण निम्न प्रकार है :

"**शंका**— जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप में व्यापार हुआ करता है ? अर्थात् जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का कार्य क्या है ?

**१. समाधान**—जीवों में उच्चगोत्र कर्म का कार्य उनको राज्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होना है.

**खण्डन**— यह समाधान गलत है क्योंकि जीवों को राज्यादि संपत्ति की प्राप्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय से न होकर सातावेदनीय कर्म के उदय से ही हुआ करती है.

**२. समाधान**—जीवों में पंच महाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**खण्डन**— यदि जीवों में उच्चगोत्र-कर्म के उदय से पंचमहाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होता है तो ऐसी हालत में देवों में और अभव्य जीवों में उच्चगोत्र-कर्म के उदय का अभाव स्वीकार करना होगा, जबकि उन दोनों प्रकार के जीवों में, जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार, उच्चगोत्र-कर्म के उदय का तो सद्भाव और पंचमहाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता का अभाव दोनों ही एक साथ पाये जाते हैं.

**३. समाधान**—जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय से हुआ करती है.

**४. खण्डन**—यह समाधान भी सही नहीं है क्योंकि जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति उच्चगोत्र कर्म का कार्य न होकर ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की सहायता से सापेक्ष सम्यग्दर्शन का ही कार्य है. दूसरी बात यह है कि जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र कर्म का कार्य माना जायगा तो फिर तिर्यंचों और नारकियों में भी उच्चगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव मानने के लिये हमें बाध्य होना पड़ेगा जो कि अयुक्त होगा, क्योंकि जैन शास्त्रों की मान्यता के अनुसार जिन तिर्यंचों और जिन नारकियों में सम्यग्ज्ञान का सद्भाव पाया जाता है उनमें उच्चगोत्र कर्म के उदय का अभाव ही रहा करता है.

**४. समाधान**—जीवों में आदेयता यश और सुभगता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

**खण्डन**— यह समाधान भी इसीलिए गलत है कि जीवों में आदेयता, यश और सुभगता का प्रादुर्भाव उच्चगोत्र कर्म के उदय का कार्य न होकर क्रमशः आदेय, यशः कीर्त्ति और सुभग संज्ञा वाले नाम कर्मों का ही कार्य है.

**५. समाधान**—जीवों का इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में जन्म लेना उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.[1]

**खण्डन**— यह समाधान भी उल्लिखित प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता है क्योंकि इक्ष्वाकु कुल आदि जितने क्षत्रिय कुलों को लोक में मान्यता प्राप्त है वे सब काल्पनिक होने से एक तो अतद्रूप ही हैं. दूसरे यदि इन्हें वस्तुतः सद्रूप ही माना जाय तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि उच्चगोत्र-कर्म का उदय केवल इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में ही पाया जाता है; कारण कि जैन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार उक्त क्षत्रिय कुलों के अतिरिक्त वैश्य कुलों और ब्राह्मण कुलों में भी तथा उक्त सभी तरह के कुलों के बन्धन से मुक्त हुए साधुओं में भी उच्चगोत्र कर्म का उदय पाया जाता है.[2]

**६. समाधान**—सम्पन्न (धनाढ्य) लोगों से जीवों की उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

**खण्डन**— यह समाधान भी सही नहीं है क्योंकि सम्पन्न (धनाढ्य) लोगों से जीवों की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र कर्म का कार्य माना जायगा तो ऐसी हालत में म्लेच्छराज से उत्पन्न हुए बालक में भी हमें उच्चगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव स्वीकार करना होगा, कारण कि म्लेच्छराज की संपन्नता तो राजकुलका व्यक्ति होने के नाते निर्विवाद है. परन्तु समस्या यह है कि जैन-सिद्धान्त में म्लेच्छ जाति के सभी लोगों के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय माना गया है.

**७. समाधान**—अणुव्रतों को धारण करने वाले व्यक्तियों से जीवों की उत्पत्ति होना उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

---

१. 'नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ' का हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ में 'इक्ष्वाकुकुल आदि की उत्पत्ति में इसका व्यापार नहीं होता' किया गया है जो गलत है. इसका सही अर्थ 'इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में जीवों की उत्पत्ति होना इसका व्यापार नहीं है' होना चाहिए.

२. यहां पर षट्खण्डागम पुस्तक १३ में 'विड्ब्राह्मण साधुष्वपि' वाक्य का हिन्दी अर्थ 'वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में' किया गया है जो गलत है. इसका सही अर्थ 'वैश्यों, ब्राह्मणों और साधुओं में' होना चाहिए.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**खण्डन**— यह समाधान भी निर्दोष नहीं है क्योंकि अणुव्रतों को धारण करने वाले व्यक्ति से जीव की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र-कर्म का कार्य माना जायगा तो ऐसी हालत में देवों में पुनः उच्चगोत्र-कर्म के उदय का अभाव प्रसक्त हो जायगा जो कि अयुक्त होगा. देवों में एक ओर तो उच्चगोत्र-कर्म का उदय जैन-धर्म में स्वीकार किया गया है तथा दूसरी ओर देवगति में अणुव्रतों के धारण करने की असंभवता के साथ-साथ मात्र उपपादशय्या पर ही देवों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है. जीवों की अणुव्रतियों से उत्पत्ति होना उच्चगोत्र कर्म का कार्य मानने पर दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि इस तरह से तो नाभि-राज के पुत्र भगवान् ऋषभदेव को भी नीचगोत्री स्वीकार करना होगा क्योंकि नाभिराज के समय में अणुव्रत आदि धार्मिक प्रवृत्तियों का मार्ग खुला हुआ नहीं होने से जैन-संस्कृति में उन्हें अणुव्रती नहीं माना गया है.

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाले उल्लिखित सातों समाधानों में से जब कोई भी समाधान निर्दोष नहीं है तो इनके आधार पर उच्चगोत्र-कर्म को सफल नहीं कहा जा सकता है और इस तरह निष्फल हो जाने पर उच्चगोत्र-कर्म को कर्मों के वर्ग में स्थान देना ही अयुक्त हो जाता है जिससे इसका (उच्चगोत्र-कर्म का) अभाव सिद्ध हो जाता है तथा उच्चगोत्र-कर्म के अभाव में फिर नीचगोत्र-कर्म का भी अभाव निश्चित हो जाता है, कारण कि उच्च और नीच दोनों ही गोत्र-कर्म परस्पर एक-दूसरे से सापेक्ष होकर ही अपनी सत्ता कायम रक्खे हुए हैं. इस प्रकार अंतिम निष्कर्ष के रूप में संपूर्ण गोत्र-कर्म का अभाव सिद्ध होता है.

उक्त व्याख्यान पर बारीकी से ध्यान देने पर इतनी बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय के विद्वान् एक तो जैन-सिद्धान्त द्वारा मान्य नारकियों और तिर्यंचों में नीचता की व्यवस्था को तथा देवों में उच्चता की व्यवस्था को निर्विवाद ही मानते थे लेकिन दूसरी तरफ मनुष्यों में जैन शास्त्रों द्वारा स्वीकृत उच्चता तथा नीचता संबंधी उभय रूप व्यवस्था को वे शंकास्पद स्वीकार करते थे. नारकियों और तिर्यंचों में नीचता की व्यवस्था को और देवों में उच्चता की व्यवस्था को निर्विवाद मानने का कारण यह जान पड़ता है कि सभी नारकियों और सभी तिर्यंचों में सर्वदा नीचगोत्र-कर्म का तथा सभी देवों में सर्वदा उच्चगोत्र-कर्म का उदय ही जैन आगमों द्वारा प्रतिपादित किया गया है और मनुष्यों में उच्चता तथा नीचता उभय रूप व्यवस्था को शंका-स्पद मानने का कारण यह जान पड़ता है कि चूंकि मनुष्यों में नीचगोत्र-कर्म तथा उच्चगोत्र-कर्म का उदय छद्मस्थों (अल्पज्ञों) के लिये अज्ञात ही रहा करता है. अतः उनमें नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीचता का और उच्च-गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्चता का व्यवहार करना हम लोगों के लिये शक्य नहीं रह जाता है.

यद्यपि धवलाशास्त्र की पुस्तक १५ के पृष्ठ १५२ पर तिर्यंचों में भी उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का कथन किया गया है इसलिए मनुष्यों की तरह तिर्यंचों में भी उच्चता तथा नीचता की दोनों व्यवस्थायें शंकास्पद हो जाती हैं परन्तु वहीं पर यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि तिर्यंचों में उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का सद्भाव मानने का आधार केवल उनके (तिर्यंचों के) द्वारा संयमासंयम का परिपालन करना ही है. वह कथन निम्न प्रकार है :

**'तिरिक्खेसु णीचागोदस्य चेव उदीरणा होदि त्ति सव्वत्थ परूविदं, एत्थ पुण उच्चागोदस्स वि उदीरणा परूविदा. तेणं पुण पुव्वावरविरोहो त्ति भणिदे, ण, तिरिक्खेसु संजमासंजमपरिवालयंतेसु उच्चागोत्तुवलंभादो. उच्चागोदे देससयल-संजमणिबंधणे संते मिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासंकणिज्जं, तत्थवि उच्चागोदजणिदसंजमजोगतावेक्खाए उच्चागोदत्तं पडि विरोहाभावादो'.**

यह व्याख्यान शंका और समाधान के रूप में है. इसमें निर्दिष्ट जो शंका है वह इसलिए उत्पन्न हुई है कि इस प्रकरण में इस व्याख्यान के पूर्व ही तिर्यग्गति में भी उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का प्रतिपादन किया गया है.[1] व्याख्यान का हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है—

---

१. तिरिक्ख गईए ''''उच्चागोदस्य जहण्णट्ठिदि उदीरणा संखेज्जगुणा, जट्ठिदि० विसेसाहिया. (धवला पुस्तक १५ पृष्ठ १५२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंका— तिर्यंचों में नीचगोत्र-कर्म की उदीरणा होती है यह बात तो आगम में सर्वत्र प्रतिपादित की गई है लेकिन इस प्रकरण में उनके उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का भी प्रतिपादन किया गया है इसलिए आगम में पूर्वापर-विरोध उपस्थित होता है.

समाधान— यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि संयमासंयम का पालन करने वाले तिर्यंचों में ही उच्चगोत्र की उपलब्धि होती है.

शंका— यदि जीवों में देशसंयम और सकलसंयम के आधार पर उच्चगोत्र का सद्भाव माना जाय तो इस तरह मिथ्यादृष्टियों में उच्चगोत्र का अभाव मानना होगा जब कि जैन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार उनमें उच्चगोत्र का भी सद्भाव पाया जाता है.

समाधान— यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि मिथ्यादृष्टियों में देशसंयम और सकलसंयम की योग्यता का पाया जाना तो सम्भव है ही इसीलिए उनकी उच्चगोत्रता के प्रति आगम का विरोध नहीं रह जाता है.

यद्यपि धवला के उक्त शंका समाधान से तिर्यग्गति में उच्चगोत्र की उदीरणा सम्बन्धी प्रश्न तो समाप्त हो जाता है परन्तु इससे एक तो देशसंयम और सकलसंयम को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के सद्भाव में कारण मानने से पंचम गुणस्थान में जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रतिपादित नीचगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव मानना असंगत होगा और दूसरे मनुष्यगति की तरह तिर्यग्गति में भी देशसंयम धारण करने की योग्यता का परिज्ञान अल्पज्ञों के लिये असम्भव रहने के कारण उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय की व्यवस्था करना मनुष्यगति की तरह जटिल ही होगा.

उक्त दोनों ही प्रश्न इतने महत्त्व के हैं कि जब तक इनका समाधान नहीं होता तब तक तिर्यग्गति में भी उच्चगोत्र और नीचगोत्र की व्यवस्था सम्बन्धी समस्या का हल होना असंभव ही प्रतीत होता है. विद्वानों को इन पर अपना दृष्टिकोण प्रगट करना चाहिए. हमारा दृष्टिकोण निम्न प्रकार है :

प्रथम प्रश्न के विषय में हम ऐसा सोचते हैं कि आगम द्वारा तिर्यग्गति में उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का जो प्रतिपादन किया गया है उसे एक अपवाद सिद्धान्त स्वीकार कर, यही मानना चाहिए कि ऐसा कोई तिर्यंच—जो देशसंयम धारण करने की किसी विशेष योग्यता से प्रभावित हो—उसी के उक्त आगम के आधार पर उच्चगोत्र-कर्म का उदय रह सकता है. इस तरह सामान्य रूप से देशसंयम को धारण करने वाला तिर्यंच नीचगोत्री ही हुआ करता है.

दूसरे प्रश्न के विषय में हमारा यह कहना है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगति के जीवों की जीवनवृत्तियों में समान रूप से प्राकृतिकता को स्थान प्राप्त है, इसलिए तिर्यंचों में उच्चता और नीचताजन्य भेद का सद्भाव रहते हुए भी जीवनवृत्तियों की उस प्राकृतिकता के कारण नारकियों और देवों के समान ही सभी तिर्यंचों में परस्पर जीवन-वृत्तिजन्य ऐसी विषमता का पाया जाना सम्भव नहीं है जिसके आधार पर उनमें यथायोग्य दोनों गोत्रों के उदय की व्यवस्था स्वीकार करने से व्यावहारिक गड़बड़ी पैदा होने की संभावना हो. केवल मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है जहां जीवनवृत्ति के लिये अनिवार्य सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति के आधार पर गोत्र कर्म के उच्च तथा नीच रूप उदयभेद का व्यावहारिक उपयोग होता है. तात्पर्य यह है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगति के जीवों की जीवन-वृत्तियों में प्राकृतिकता को जैसा स्थान प्राप्त है वैसा स्थान मनुष्यों की जीवनवृत्तियों में प्राकृतिकता को प्राप्त नहीं है. यही कारण है कि मनुष्य को सामान्य रूप से कौटम्बिक संगठन, ग्राम्य संगठन, राष्ट्रीय संगठन और यहां तक कि मानव संगठन आदि के रूप में सामाजिक व्यवस्थाओं के अधीन रह कर ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी जीवनवृत्ति का संचालन करना पड़ता है. परन्तु यह सब तिर्यंचों के लिये आवश्यक नहीं है.

यद्यपि हम मानते हैं कि भोगभूमिगत मनुष्यों की जीवनवृत्तियों में प्राकृतिकता के ही दर्शन होते हैं और यही कारण है कि उन मनुष्यों में सामाजिक व्यवस्थाओं का सर्वथा अभाव पाया जाता है. अलावा इसके, उनमें केवल उच्चगोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म का ही उदय सर्वदा विद्यमान रहता है. इसलिए उनके जीवन में व्यावहारिक विषमता को स्थान प्राप्त नहीं होता है लेकिन कर्मभूमिगत मनुष्यों की जीवनवृत्तियों में जो अप्राकृतिकता स्वभावत: पायी जाती है उसके कारण उनको अपनी जीवनवृत्ति की सम्पन्नता के लिये उक्त सामाजिक व्यवस्थाओं की अधीनता में पुरुषार्थ का उपयोग करना पड़ता है और ऐसा देखा जाता है कि उनके द्वारा अपनी जीवनवृत्ति के संचालन के लिये अपनाये गये भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरुषार्थों में उच्चता और नीचता का वैषम्य स्वभावतः हो जाता है जिसके कारण उनकी जीवन-वृत्तियां भी उच्च और नीच के भेद से दो वर्गों में विभाजित हो जाती हैं. यद्यपि कर्मभूमिगत मनुष्यों में जीवनवृत्तियों की बहुत-सी विविधतायें पायी जाती हैं और जीवनवृत्तयों की इन्हीं विविधताओं के आधार पर ही उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों की तथा इन्हीं वर्णों के अन्तर्गत जीवनवृत्तियों के आधार पर ही यथायोग्य लुहार, चमार आदि विविध जातियों की स्थापना को जैन संस्कृति में स्वीकार किया गया है परन्तु जीवनवृत्तियों के आधार पर स्थापित सभी वर्णों और उनके अन्तर्गत पायी जाने वाली उक्त प्रकार की सभी जातियों को भी जीवन-वृत्तियों में पायी जाने वाली उच्चता और नीचता के अनुसार ही उच्च और नीच दो वर्गों में संग्रहीत कर दिया गया है. इस प्रकार उच्च और नीच दोनों प्रकार की जीवनवृत्तियों को ही क्रमशः उच्चगोत्र कर्म और नीचगोत्र कर्म के उदय का जैन संस्कृति में मापदण्ड स्वीकार किया गया है.

जीवों में उच्चगोत्र कर्म का किस रूप में व्यापार होता है ? अथवा जीवों में उच्चगोत्र कर्म का क्या कार्य होता है ? इस प्रश्न का जो समाधान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने स्वयं किया है और जिसे इन्होंने स्वयं ही निर्दोष माना है. उसमें मनुष्यों की इसी पुरुषार्थप्रधान जीवनवृत्ति को आधार प्ररूपित किया है. आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह समाधानरूप व्याख्यान निम्न प्रकार है :

**'न, जिनवचनस्यासत्यत्वप्रसंगात्. तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते. न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्येत. न च निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसंबन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चैर्गोत्रम्. तत्रोत्पत्तिहेतुः कर्माप्युच्चैर्गोत्रम्. न चात्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति, विरोधात्. तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्. एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः."**

पहले जो समूचे गोत्रकर्म के अभाव की आशंका इस लेख में उद्धृत धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ २८८ के व्याख्यान में प्रगट कर आये हैं, उसी का समाधान करते हुए आगे वहीं पर ऊपर लिखा व्याख्यान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने किया है. उसका हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है :

"गोत्रकर्म के अभाव की आशंका करना ठीक नहीं है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् ने स्वयं ही गोत्रकर्म के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है और यह बात निश्चित है कि जिनेन्द्र भगवान् के वचन कभी असत्य नहीं होते हैं. असत्यता का जिनेन्द्र भगवान् के वचन के साथ विरोध है अर्थात् वचन एक ओर तो जिनेन्द्र भगवान् के हों और दूसरी ओर वे असत्य भी हों—यह बात कभी संभव नहीं है. ऐसा इसलिए मानना पड़ता है कि जिन भगवान् के वचनों को असत्य मानने का कोई कारण ही दृष्टिगोचर नहीं होता है.

जिन भगवान् ने यद्यपि गोत्रकर्म के सद्भाव का प्रतिपादन किया है किन्तु हमें उसकी (गोत्रकर्म की) उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए जिन-वचन को असत्य माना जा सकता है, पर ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान के विषयभूत सम्पूर्ण पदार्थों में हम अल्पज्ञों के ज्ञान की प्रवृत्ति ही नहीं होती.

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्म को निष्फल मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि जो पुरुष स्वयं तो दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले हैं ही तथा इस प्रकार के साधु आचार वाले पुरुषों के साथ जिन का सम्बन्ध स्थापित हो चुका है उनमें 'आर्य' इस प्रकार के प्रत्यय और 'आर्य' इस प्रकार के शब्द-व्यवहार की प्रवृत्ति के भी जो योग्य हैं, उन पुरुषों के संतान[1] अर्थात् कुल

१. संततिर्गोत्र जननकुलान्यभिजनान्वयौ. वंशोऽन्वायः संतान —अमर कोष ब्रह्म वर्ग.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की जैन संस्कृति में उच्चगोत्र संज्ञा स्वीकार की गयी है[1] तथा ऐसे कुलों में जीव के उत्पन्न होने के कारणभूत कर्म को भी जैन संस्कृति में उच्चगोत्र-कर्म के नाम से पुकारा गया है.

इस समाधान में पूर्व प्रदर्शित दोषों में से कोई भी दोष सम्भव नहीं है क्योंकि इसके साथ उन सभी दोषों का विरोध है. इसी उच्चगोत्र कर्म के ठीक विपरीत ही नीचगोत्र-कर्म है. इस प्रकार गोत्रकर्म की उच्च और नीच ऐसी दो ही प्रकृतियाँ हैं.

आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप में व्यापार होता है, इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढंग अपनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषों का परिहार करना है, जिनका निर्देश ऊपर उद्धृत पूर्व पक्ष के व्याख्यान में आचार्य महाराज ने स्वयं किया है. वे इस समाधान में यही बतलाते हैं कि दीक्षा के योग्य साधु-आचार वाले पुरुषों का कुल ही उच्चगोत्र या उच्चकुल कहलाता है और ऐसे गोत्र या कुल में जीव की उत्पत्ति होना ही उच्च-गोत्रकर्म का कार्य है. इस प्रकार मनुष्य-गति में दीक्षा के योग्य साधु-आचार के आधार पर ही जैन संस्कृति द्वारा उच्च-गोत्र या उच्चकुल की स्थापना की गयी है. इससे निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यगति में तो जिन कुलों का दीक्षा के योग्य साधुआचार न हो वे कुल नीच-गोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य हैं. 'गोत्र' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ गोत्र शब्द के निम्न-लिखित विग्रह के आधार पर होता है :

**"गूयते-शब्द्यते अर्थात् जीवस्य उच्चता वा नीचता वा लोके व्यवह्रियते अनेन इति गोत्रम् !"**

इसका अर्थ यह है कि जिसके आधार पर जीवों का उच्चता अथवा नीचता का लोक में व्यवहार किया जाय वह गोत्र कहलाता है. इस प्रकार जैन संस्कृति के अनुसार मनुष्यों की उच्च और नीच जीवनवृत्तियों के आधार पर निश्चिय किये गए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये चार वर्ण तथा लुहार, चमार आदि जातियाँ—ये सब गोत्र, कुल आदि नामों से पुकारने योग्य हैं. इन सभी गोत्रों या कुलों में से जिन कुलों में पायी जाने वाली मनुष्यों की जीवनवृत्ति को लोक में उच्च माना जाए वे उच्चगोत्र या उच्च कुल तथा जिन कुलों में पायी जाने वाली मनुष्यों की जीवनवृत्ति को लोक में नीच माना जाए वे नीचगोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य हैं. इस तरह उच्चगोत्र या कुल में जन्म लेने वाले मनुष्यों को उच्च तथा नीच या कुल में जन्म लेने वाले मनुष्यों को नीच कहना चाहिए. आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उल्लिखित व्याख्यान से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उच्चगोत्र में पैदा होने वाले मनुष्यों के नियम से उच्चगोत्र-कर्म का तथा नीच गोत्र में पैदा होने वाले मनुष्यों के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय विद्यमान रहा करता है अर्थात् विना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव उच्च कुल में और विना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव नीच कुल में उत्पन्न नहीं हो सकता है. तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्यायके 'उच्चैर्नीचैश्च'. (सूत्र १२) सूत्र की टीका करते हुए आचार्य श्रीपूज्यपाद ने भी यही प्रतिपादन किया है कि :

**"यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्।"**

अर्थात् जिस गोत्र-कर्म के उदय से जीवों का लोकपूजित (उच्च) कुलों में जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम उच्च-गोत्र कर्म है और जिस गोत्र कर्म के उदय से जीवों का लोकगर्हित (नीच) कुलों में जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम नीचगोत्र कर्म है.

जैन संस्कृति के आचारशास्त्र (चरणानुयोग) और करणानुयोग से यह सिद्ध होता है कि सभी देव उच्चगोत्री और सभी नारकी और सभी तिर्यंच नीचगोत्री ही होते हैं. परन्तु ऊपर जो उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा करने वाले तिर्यंचों का कथन किया गया है उन्हें इस नियम का अपवाद समझना चहिए. मनुष्यों में भी केवल आर्यखण्ड में बसने वाले कर्मभूमिज

---

१. 'दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां···' आदि वाक्य का जो हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ में किया गया है, वह गलत है. हमने जो यहाँ अर्थ किया है उसे सही समझना चाहिए.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य ही ऐसे हैं जिनमें उच्चगोत्री तथा नीचगोत्री दोनों प्रकार के वर्गों का सद्भाव पाया जाता है अर्थात् उक्त कर्मभूमिज मनुष्यों में से चातुर्वण्य व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों और इन वर्णों के अन्तर्गत जातियों के सभी मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं. इनसे अतिरिक्त जितने शूद्र वर्ण और इस वर्ण के अन्तर्गत जातियों के मनुष्य पाये जाते हैं वे सब तथा चातुर्वण्य व्यवस्था से बाह्य जो शक, यवन, पुलिन्दादिक हैं, वे सब नीचगोत्री ही माने गये हैं. आर्यखण्ड में बसने वाले इन कर्मभूमिज मनुष्यों को छोड़ कर शेष जितने भी मनुष्य लोक में बतलाये गये हैं उनमें से भोगभूमि के सभी मनुष्य उच्चगोत्र तथा पाँचों म्लेच्छखण्डों में बसने वाले मनुष्य और अन्तर्द्वीपज मनुष्य नीचगोत्री ही हुआ करते हैं. आर्यखण्ड में बसने वाले शक, यवन, पुलिन्दादिक को तथा पांचों म्लेच्छखण्डों में और अन्तर्दीपों में बसने वाले मनुष्यों को जैन संस्कृति में म्लेच्छ संज्ञा दी गयी है और यह बतलाया गया है कि ऐसे म्लेच्छों को भी उच्चगोत्री समझना चाहिए जिनका दीक्षा के योग्य साधु आचार वालों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका हो और इस तरह जिनमें 'आर्य' ऐसा प्रत्यय तथा 'आर्य' ऐसा शब्द व्यवहार भी होने लगा हो. इससे जैन संस्कृति में मान्य गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्त की पुष्टि होती है. गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले बहुत से लौकिक उदाहरण आज भी प्राप्त हैं, जैसे—यह इतिहासप्रसिद्ध है कि जो अग्रवाल आदि जातियां पहले किसी समय में क्षत्रिय वर्ण में थीं वे आज पूर्णतः वैश्य वर्ण में समा चुकी हैं. जैन पुराणों में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का उल्लेख है. वे उल्लेख स्त्रियों के गोत्र-परिवर्तन की सूचना देते हैं. आज भी देखा जाता है कि विवाह के अनन्तर कन्या पितृपक्ष के गोत्र की न रह कर पति-पक्ष के गोत्र की हो जाती है. इस संपूर्ण कथन का अभिप्राय यह है कि यदि परिवर्तित गोत्र उच्च होता है तो नीचगोत्र की बन जाती है और यदि परिवर्तित गोत्र नीच होता है तो उच्चगोत्र में उत्पन्न हुई नारी भी नीचगोत्र की बन जाती है और परिवर्तित गोत्र के अनुसार ही नारी के यथायोग्य नीचगोत्र कर्म का उदय न रह कर उच्चगोत्र कर्म का उदय तथा उच्चगोत्र का उदय समाप्त होकर नीचगोत्र कर्म का उदय आरम्भ हो जाता है. इसी प्रकार मनुष्यों में जीवनवृत्ति का परिवर्तन न होने पर भी गोत्र परिवर्तन हो जाता है जैसा कि अग्रवाल आदि जातियों का उदाहरण ऊपर दिया गया है.

पहले कहा चुका है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने 'उच्चगोत्र कर्म का जीवों में किस रूप में व्यापार होता है' इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढंग बनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषों का परिहार करना है जिनका निर्देश पूर्व पक्ष के व्याख्यान में किया गया है. इससे हमारा अभिप्राय यह है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने उच्चगोत्र का निर्धारण करके उसमें जीवों की उत्पत्ति के कारणभूत कर्म को उच्चगोत्र-कर्म नाम दिया है. उन्होंने बतलाया है कि दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले पुरुषों का कुल ही उच्चगोत्र कहलाता है और ऐसे कुल में जीव की उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है. इसमें पूर्वोक्त दोषों का अभाव स्पष्ट है क्योंकि इससे जैन संस्कृति द्वारा देवों में स्वीकृत उच्चगोत्र कर्म के उदय का और नारकियों तथा तिर्यंचों में स्वीकृत नीचगोत्र-कर्म के उदय का व्याघात नहीं होता है. क्योंकि इसमें उच्चगोत्र का जो लक्षण बतलाया गया है वह मात्र मनुष्यगति से ही संबन्ध रखता है और इसका भी कारण यह है कि उच्चगोत्र-कर्म के कार्य का यदि विवाद है तो वह केवल मनुष्यगति में ही संभव है. दूसरी गतियों में याने देव, नरक और तिर्यक् नाम की गतियों में, कहाँ किस गोत्र-कर्म का, किस आधार से उदय पाया जाता है, यह बात निर्विवाद है. इस समाधान से अभव्य मनुष्यों के भी उच्चगोत्र कर्म के उदय का अभाव प्रसक्त नहीं होता है क्योंकि अभव्यों को उच्च माने जाने वाले कुलों में जन्म लेने का प्रतिबन्ध इससे नहीं होता है. म्लेच्छखण्डों में बसने वाले मनुष्यों के नीचगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि इस समाधान से होती है क्योंकि म्लेच्छखण्डों में जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार धर्म-कर्म की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव विद्यमान रहने के कारण दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले उच्च कुलों का सद्भाव नहीं पाया जाता है. इसी आधार पर अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज म्लेच्छ के भी केवल नीचगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है. आर्यखण्ड के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य संज्ञा वाले कुलों में जन्म लेने वाले मनुष्यों के इस समाधान से केवल उच्चगोत्र कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य संज्ञा वाले सभी कुल दीक्षा योग्य साधु आचार वाले उच्चकुल ही माने गये हैं. साधुवर्ग में उच्च-गोत्र कर्म के उदय का व्याघात भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस समाधान से नहीं होता है क्योंकि जहाँ दीक्षायोग्य साधु आचार वाले कुलों तक को उच्चता प्राप्त है वहाँ जब मनुष्य, कुलव्यवस्था से भी ऊपर उठकर अपना जीवन आदर्शमय बना लेता है तो उसमें केवल उच्चगोत्र-कर्म के उदय का रहना ही स्वाभाविक है. शूद्रों में इस समाधान से नीचगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है क्योंकि उनके कौलिक आचार को जैन संस्कृति में दीक्षायोग्य साधु आचार नहीं माना गया है. यही कारण है कि पूर्व में उद्धृत धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ के 'विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्' वाक्य में वैश्यों, ब्राह्मणों और साधुओं के साथ शूद्रों का उल्लेख आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने नहीं किया है. यदि आचार्यश्री को शूद्रों के भी वैश्य, ब्राह्मण और साधु पुरुषों की तरह उच्चगोत्र के उदय का सद्भाव स्वीकार होता तो शूद्र शब्द का भी उल्लेख उक्त वाक्य में करने से वे नहीं चूक सकते थे. उक्त वाक्य में क्षत्रिय शब्द का उल्लेख न करने का कारण यह है कि उक्त वाक्य उन लोगों की मान्यता के खण्डन में प्रयुक्त किया गया है जो लोग उच्चगोत्र कर्म का उदय केवल क्षत्रिय कुलों में मानना चाहते थे.

यदि कोई यहां यह शंका उपस्थित करे कि भोगभूमि के मनुष्यों में भी तो जैन संस्कृति द्वारा केवल उच्चगोत्र-कर्म का ही उदय स्वीकार किया गया है लेकिन उपर्युक्त उच्चगोत्र का लक्षण तो उनमें घटित नहीं होता है, क्योंकि भोगभूमि में साधुमार्ग का अभाव ही पाया जाता है, अतः वहाँ के मनुष्य-कुलों को दीक्षा-योग्य साधु-आचार वाले कुल कैसे माना जा सकता है ? तो इस शंका का समाधान यह है कि भोगभूमि के मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं, यह बात हम पहले ही बतला आये हैं. जैन-संस्कृति की भी यही मान्यता है. इसलिये वहाँ मनुष्यों की उच्चता और नीचता का विवाद नहीं होने के कारण केवल कर्मभूमि के मनुष्यों को लक्ष्य में रखकर ही उच्चगोत्र का उपर्युक्त लक्षण निर्धारित किया गया है.

इस प्रकार षट्खण्डागम की धवला टीका के आधार पर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि उच्च गोत्रीमनुष्य के उच्चगोत्र-कर्म का और नीचगोत्री मनुष्यों के नीचगोत्र-कर्म का ही उदय रहा करता है लेकिन जो उच्चगोत्री मनुष्य कदाचित् नीचगोत्री हो जाता है अथवा जो नीचगोत्री मनुष्य कदाचित् उच्चगोत्री हो जाता है, उसके यथायोग्य पूर्वगोत्र कर्म का उदय समाप्त होकर दूसरे गोत्रकर्म का उदय हो जाया करता है.

षट्खण्डागम की धवला टीका के आधार पर दूसरा सिद्धान्त यह स्थिर होता है कि दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले जो कुल होते हैं याने जिन कुलों का निर्माण दीक्षा के योग्य साधु-आचार के आधार पर हुआ हो वे कुल ही उच्चकुल या उच्चगोत्र कहलाते हैं. इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कौलिक आचार के आधार पर ही एक मनुष्य उच्चगोत्री और दूसरा मनुष्य नीचगोत्री समझा जाना चाहिए. गोम्मटसार कर्मकाण्ड में तो स्पष्ट रूप से उच्चाचरण के आधार पर एक मनुष्य को उच्चगोत्री और नीचाचरण के आधार पर दूसरे मनुष्य को नीचगोत्री प्रतिपादित किया है. गोम्मटसार कर्मकाण्ड का वह कथन निम्न प्रकार है :

**'संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।**
**उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं । १३ ।**

जीव का संतानक्रम से अर्थात् कुलपरम्परा से आया हुआ जो आचरण है उसी नाम का गोत्र समझना चाहिए. वह आचरण यदि उच्च हो तो गोत्र को भी उच्च ही समझना चाहिए और यदि वह आचरण नीच हो तो गोत्र को भी नीच ही समझना चाहिए.

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की उल्लिखित गाथा का अभिप्राय यही है कि उच्च और नीच दोनों ही कुलों का निर्माण कुलगत उच्च और नीच आचरण के आधार पर ही हुआ करता है. यह कुलगत आचरण उस उस कुल की निश्चित जीवनवृत्ति के अलावा और क्या हो सकता है ? इसलिये कुलाचरण से तात्पर्य उस उस कुल की निर्धारित जीवनवृत्ति का ही लेना चाहिये. कारण कि धर्माचरण और अधर्माचरण को इसलिए उच्च और नीच गोत्रों का नियामक नहीं माना जा सकता है कि धर्माचरण करता हुआ भी जीव जैन-संस्कृति की मान्यता के अनुसार नीचगोत्री हो सकता है. इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मभूमि के मनुष्यों में ब्राह्मणवृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति को जैन-संस्कृति की मान्यता के अनुसार उच्चगोत्र की नियामक और शौद्रवृत्ति तथा म्लेच्छवृत्ति को नीचगोत्र की नियामक समझना चाहिए.

एक बात और है कि वृत्तियों के सात्विक, राजस और तामस ये तीन भेद मानकर ब्राह्मणवृत्ति को सात्विक, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति को राजस तथा शौद्रवृत्ति और म्लेच्छवृत्ति को तामस कहना भी अयुक्त नहीं है. जिस वृत्ति में उदात्त गुण की प्रधानता हो वह सात्विकवृत्ति, जिस वृत्ति में शौर्यगुण अथवा प्रामाणिक व्यवहार की प्रधानता हो वह राजस-वृत्ति और जिस वृत्ति में हीनभाव अर्थात् दीनता या क्रूरता की प्रधानता हो वह तामसवृत्ति जानना चाहिए. इस प्रकार ब्राह्मण वृत्ति में सात्विकता, क्षात्रवृत्ति में शौर्य, वैश्यवृत्ति में प्रामाणिकता, शौद्रवृत्ति में दीनता और म्लेच्छवृत्ति में क्रूरता का ही प्रधानतया समावेश पाया जाता है. इन तीन प्रकार की वृत्तियों में से सात्विक वृत्ति और राजसवृत्ति दोनों ही उच्चता की तथा तामसवृत्ति नीचता की निशानी समझना चाहिए.

इस लेख में हमने मनुष्यों की उच्चता और नीचता के विषय में जो विचार प्रगट किये हैं उनका आधार यद्यपि आगम है फिर भी यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि सहसा समझ में आना कठिन है. अतः विद्वानों से हमारा अनुरोध है कि वे भी इस विषय का चिन्तन करें और अपनी विचारधारा के निष्कर्ष को व्यक्त करें.

यद्यपि इस विषय पर कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से भी विचार किया जाना था परन्तु लेख का कलेवर इतना बढ़ चुका है कि प्रस्तुत लेख में मैंने जो कुछ लिखा है उसमें भी संकोच की नीति से काम लेना पड़ा है. अतः अतिरिक्त विषय कभी प्रसंगानुसार ही लिखने का प्रयत्न करूंगा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org